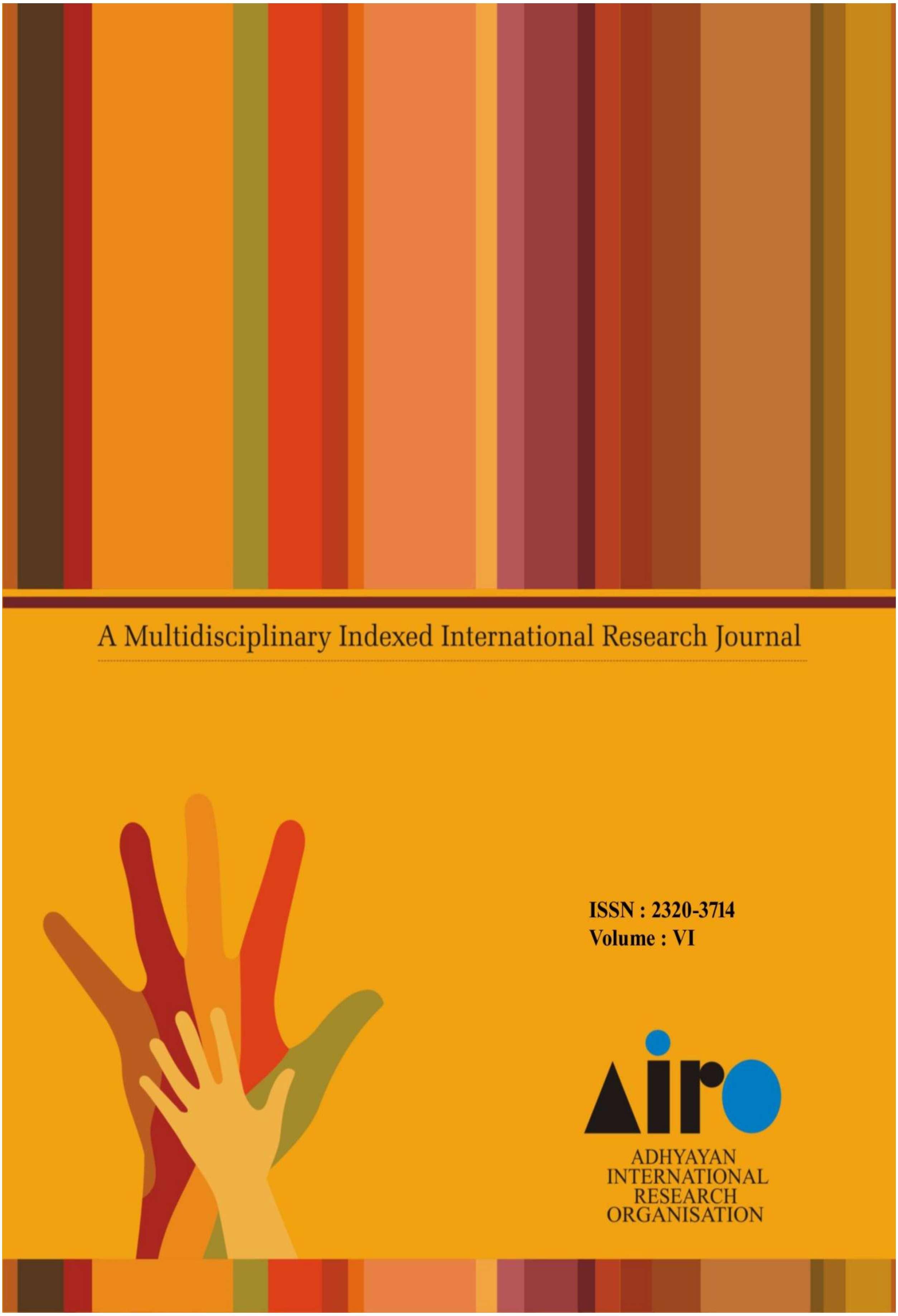
A Multidisciplinary Indexed International Research Journal
ISSN : 2320-3714
Volume : VI
ADHYAYAN
INTERNATIONAL
RESEARCH
ORGANISATION

न्याय सूत्र के अनुसार संषय पदार्थ का स्वरूप विवेचन

डॉ0 बलजीत सिंह

प्रवक्ता संस्कृत विभाग

राजकीय महाविद्यालय, कनीना

जिला–महेन्द्रगढ़, हरियाणा

Declaration of Author: I hereby declare that the content of this research paper has been truly made by me including the title of the research paper/research article, and no serial sequence of any sentence has been copied through internet or any other source except references or some unavoidable essential or technical terms. In case of finding any patent or copy right content of any source or other author in my paper/article, I shall always be responsible for further clarification or any legal issues. For sole right content of different author or different source, which was unintentionally or intentionally used in this research paper shall immediately be removed from this journal and I shall be accountable for any further legal issues, and there will be no responsibility of Journal in any matter. If anyone has some issue related to the content of this research paper's copied or plagiarism content he/she may contact on my above mentioned email ID.

भूमिका :

"न्याय" (तर्कषास्त्र अथवा हेतु विद्या) भारतीय दर्षन के विषयों में से एक प्रमुख विषय है, भारत में जिसका प्रादुर्भाव औपनिषदिक काल में ही हो चुका था।

"न्याय" शब्द की व्युत्पति 'नि' उपसर्ग पूर्वक इण् धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाकर होती है।[1] 'न्याय' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है। वात्स्यायन के अनुसार 'न्याय' शब्द का अर्थ है – प्रमाणों द्वारा अर्थ की परीक्षा करना।[2] दूसरे स्थल पर वात्स्यायन ने बताया है कि 'प्रतीज्ञा' आदि पाँच अनुमानावयवों को भी 'न्याय' शब्द से अभिहित किया है।[3] प्रमाणों पर विचार करने के कारण इसे 'प्रमाणषास्त्र' भी कहा जाता है। भाष्यकार वात्स्यायन ने 'न्याय' को आन्वीक्षिकी नाम से भी बताया है – "प्रत्यक्षागमाश्रितयनुमानं सा अन्वीक्षा तथा प्रवर्तते इति आन्वीक्षिकी"।[4] भाष्यकार ने यह स्पष्ट किया है कि न्यायषास्त्र उपनिषदों की भाँति मात्र अध्यात्मक विद्या नहीं, अपितु संषय से लेकर निग्रह स्थान पर्यन्त जो चौदह पदार्थ हैं उनका विवेचन करना 'न्याय दर्षन' का हेतु है।

संषय का अर्थ :

"संषय" शब्द सम् उपर्गपूर्वक 'षीड्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाकर बना है। संषय न्याय का प्रवर्तक है। इसे न्याय पूर्वाङ्गः भी कहा जाता है। संषय की भूमि प्रमाण प्रमेय जन्य व्यवहार है। संषय यद्यपि

अनवधाणात्मक ज्ञान होने से तथा प्रमाण की अपेक्षा रखने से एक प्रमेय है, तथापि न्याय प्रवर्तक होने के कारण सूत्रकार ने इसको स्वतंत्र पदार्थ के रूप में स्थान दिया है। सूत्रकार गौतम द्वारा कथित षोड़ष पदार्थों के रूप में संषय का तीसरा स्थान होता है। सूत्रकार ने स्पष्ट कहा है कि विमर्ष करके पक्ष एवं प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का अवधरण निर्णय कहलाता है।[5] वाक्य का प्रवर्तन पक्ष तथा प्रतिपक्ष को आधार मानकर किया जाता है। अर्थावधारण इसी से होता है, जो कि निर्णायात्मक ज्ञान होता है।

न्याय सूत्रकार गौतम के अनुसार संषय का लक्षणः

"समानानेकधर्मोपपतेः विप्रतिपत्तेः उपलब्धयनुपलब्ध्य व्यवस्थातष्च विषापेक्षः विमर्षः संषयः"6 अर्थात् समान धर्मों की उतपति से तथा अनेक धर्मों की स्थिति से, विरूद्ध धर्मों की स्थिति से, उपलब्धि की अव्यवस्था (अनियम) से, अनुपलब्धि की अव्यवस्था से और विषेष ज्ञान की अपेक्षा रहते हुए जो विमर्ष अर्थात् द्विकोटिक ज्ञान होता है, वह संषय कहा जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में संषय लक्ष्य पद है व विमर्ष लक्षण पद है। 'विमर्ष' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक मृष् धातु से बना है। मृष् धातु तुदादिगण परस्मैपदी 'आमर्षन' अर्थ में पठित है। आमर्षन का अर्थ स्पर्ष या छुना है, तात्पर्य है – जानकारी के साथ किसी वस्तु तक पहुंचना अर्थात् वस्तु को जानना। इस प्रकार 'मृष' धातु का अर्थ यहां 'ज्ञान' समझना चाहिए। फलतः संषय का स्वरूप हुआ – एक धर्मी में दो विरूद्ध धर्मों का ज्ञान होना। परन्तु संषय तभी उभरता है, जब विषेष ज्ञान की अपेक्षा हो इसलिए "विषेषाक्षेपः" विषेषण दिया गया। यदि धर्मी विषयक विषेष को जानने की उत्कण्ठा जागृत नहीं होती, तो संषय के उत्पन्न होने का अवसर नहीं आता।

संषयोत्पति को पाँच व अवस्थाएँः

संषय उत्पन्न होने की पाँच अवस्थाएँ सूत्र में बताई गई हैं – समानधर्मोपपति, अनेक धर्मोपपति, विप्रतिपति, उपलब्धि अव्यवस्था, अनुपलब्धि अव्यवस्थाफ।[7]

इन्हीं पाँच अवस्थाओं को आधार बनाकर उत्पन्न होने वाला

संषय भी पाँच प्रकार का है, जो इस प्रकार है–

(1) समानधर्मोपति संषय

(2) अनेकधर्मोपति संषय

(3) विप्रतिपति से उत्पन्न संषय

(4) उपलब्धि अव्यवस्था से उत्पन्न संषय

(5) अनुपलब्धि अव्यवस्था से उत्पन्न संषय

(1) समानधर्मोपति संषय

पुरोवर्ती धर्मी में ऐसे धर्मों का दीखना, जो समान रूप से दो धर्मिथों में विद्यमान रहते हैं। उन समान धर्मों के दीखने पर व्यक्ति संषय में पड़ जाता है कि ये धर्म दोनों धर्मियों में से कौन–से में दिखाई दे रहे हैं।[8] सांयकाल मन्द अन्धकार हो जाने पर निर्जन प्रदेष से होकर कोई व्यक्ति चला जा रहा है। सामने उसे कुछ दिखाई दिया। व्यक्ति के पास कुछ धन आदि वस्तु है। सामने दिखाई दे रहे धर्मों में पुरूष और स्थाणु दोनों के समान धर्म (आरोह–परिणाह) उतार–चढ़ाव, लम्बाई–चौड़ाई आदि दिखाई दे रहे हैं, पुरूष के विषेष धर्म– हाथ, पैर, सिर आदि तथा स्थाणु के टेढ़ापन खोखर आदि दिखाई नहीं दे रहे, पर पथिक उनको जानने की इच्छा कर रहा है, जिससे स्थाणु – पुरूष दोनों धर्मियों में से एक निष्चय हो सके। यदि पुरूष का निष्चय हो जाए और उसे हानि का भय हो तो आगे न जाकर वापस लौट आए। यदि स्थाणु का निष्चय हो जाए तो निर्भय होकर आगे चला जाए। व्यक्ति सोचता है – मैं स्थाणु–पुरूष के समान धर्मों को देख रहा हूँ, विषेष धर्मों को नहीं देख रहा हूँ, ऐसी प्रतीति होना 'अपेक्षा' है। यही अपेक्षा भय, आषंका का सहयोग पाकर संषय का जन्म देती है।

(2) अनेकधर्मोपति संषय

'अनेक' पद धर्मों का बोधक है। प्रत्येक धर्मी का कोई समजातीय धर्म होता है, कोई असमानजातीय। यह किसी धर्म विषेष के आधार पर होता है जैसे – 'द्रव्यत्व' धर्म के आधार पर पृथिवी के समानजातीय धर्मी हैं – जल, तेज आदि और असमानजातीय धर्मों हैं गुण, कर्म आदि क्योंकि इनमें द्रव्यत्व धर्म नहीं रहता।

पृथिवी में एक धर्म है गन्धवत्त्व। यह पृथिवी का विषेष धर्म है। समान असमानजातीय सभी धर्मियों में पृथिवी को यह भिन्न रखता है। पृथिवी में इस धर्म की विद्यमानता पृथिवी के विषय में सन्देह उत्पन्न करती है कि पृथिवी को द्रव्य माना जाए अथवा गुण या कर्म माना जाए? क्योंकि 'गंन्धवत्त्व' का अभाव जलादि द्रव्यों, गुण और कर्म तीनों के समान रूप से विद्यमान है। इस प्रकार अनेक धर्म अर्थात् किसी धर्म का असाधारण धर्म उसकी किसी स्थिति के विषय में संषय का जनक हो जाता है। यह उसी दषा में होता है जब उस धर्मी के विषय में विषेष्ज्ञ जानकारी की अपेक्षा हो।

(3) विप्रतिपति से उत्पन्न संषय

विप्रतिपति शब्द में 'वि' का अर्थ है – विरूद्ध अथवा विरोधी, 'प्रतिपति' का अर्थ है – ज्ञान एक अधिकरण में परस्पर विरोधी ज्ञानों का होना 'विप्रतिपति' है, जो संषय को उत्पन्न करता है।[10]

जैसे – कोई आचार्य कहता है आत्मा है, अन्य आचार्य का कहना है कि आत्मा नहीं हैं। आत्मा अधिकरण जिसके विषय में दो विरूद्ध ज्ञान हो रहे हैं। इन दोनों आचार्यों के मतों को सुनकर श्रोता को संषय उत्पन्न हो जाता है कि आत्मा है या नहीं?[11] क्योंकि होना और न होना दोनों विरोधी धर्मों का एक अधिकरण में रहना असम्भव है। इनमें से किसी एक धर्म का निष्चायक हेतु जब तक उपलब्ध नहीं होता, तब तक विषेष की अपेक्षा होने पर अनवधारणा अर्थात् संषय की स्थिति बनी रहती है।

(4) उपलब्धि की अव्यवस्था से उत्पन्न संषय

विद्यमान और अविद्यमान दोनों प्रकार की वस्तु उपलब्ध हो जाना, उपलब्धि विषयक अवस्था का स्वरूप है। उपलब्धि की अवस्था से भी संषय उत्पन्न होता है। कभी–कभी यह देखा जाता है कि न होती हुई अर्थात् अविद्यमान वस्तु की उपलब्धि प्रतीति हो जाती है जैसै – भरूमरीचिका में जल की प्रतीतिः तथा नदी, तड़ाग आदि में विद्यमान जल की उपलब्धि होती है। अनन्तर किसी अवसर पर कोई वस्तु प्रतीति होने पर यह संषय उत्पन्न हो जाता है कि यह प्रतीति मरूमरीचिका में जल के समान

अविद्यमान की प्रतीति है अथवा नदी में जल के समान विद्यमान की? विषेष की अपेक्षा होने पर जब तक विषेष के अवधारण (निष्चय) का कोई हेतु उपलब्ध नहीं होता तब तक संषय बना रहता है। विद्मान अविद्यमान दोनों प्रकार की वस्तु का उपलब्ध हो जाना उपलब्धि विषयक अव्यवस्था का स्वरूप है।[12]

(5) अनुपलब्धि अव्यवस्था संषय

उपलब्धि अव्यवस्था के विपरीत कभी ऐसा होता है कि विद्यमाप वस्तु की उपलब्धि नहीं होती, अर्थात् अनुपलब्धि रहती है, जैसे– विद्यमान वृक्षादि की भी जड़ दिखाई नहीं देती। दीवार में गढ़ी कील का अथवा भूमि गढ़े खूंटे आदि का बहुत सा भाग अथवा दिखाई नहीं देता। यह विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि है। अविद्यमान वस्तु जो उत्पन्न नहीं हुई अथवा उत्पन्न होकर नष्ट हो चुकी है, उसकी अनुपलब्धि यथार्थ है। अनन्तर ऐसा हो सकता है कि ढूंढने पर कभी वस्तु नहीं मिल रही होती। उस समय यह संषय हो जाता है कि वस्तु अविद्यमान है इसलिए नहीं दिखाई दे रही। वस्तु की विद्यमानता – अविद्यमानता दोनों अवस्थाओं में वस्तु की अनुपलब्धि – अव्यवस्था' का स्वरूप है।[13]

इस प्रकार भाष्यकार के अनुसार संषय के पाँच भेद हैं, परन्तु वार्तिककार और तात्पर्यटीकाकार को यह मत स्वीकार नहीं।

उनके अनुसार संषय तीन प्रकार का है :

(1) समानधर्मोपपति संषय, (2) अनेकधर्मोपपति संषय, (3) विप्रतिपति से उत्पन्न संषय। वार्तिककार तथा तात्पर्यटीकाकार के मत में उपलब्धि की अव्यवस्था और अनुपलब्धि की अव्यवस्था उपर्युक्त दोनों को इन तीन प्रकार के संषयों का ही विषेष माना है। तात्पर्य टीकाकार ने तात्पर्य टीका में स्पष्ट वर्णन किया है कि – समान तथा अनेक धर्म की उपलब्धि के रहते साधक तथा बाधक प्रमाण के नरहने पर संषय नहीं होता है। अतः उपलब्धि की अव्यवस्था, अनुपलब्धि की अव्यवस्था को अलग मानने की आवष्यकता नहीं है।[14]

अप्रमा ज्ञान में संषय का वैषिष्ट्य :

संषय उस ज्ञान को कहते हैं जिससे किसी वस्तु को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है। जिस विषय में संषय होता है मनुष्य उसे ही समझना चाहता है। अंतः जिज्ञासा के प्रति कारण होने वाले ज्ञान को ही संषय कहते हैं। यह अमुक वस्तु है या अमुक वस्तु नहीं है? इत्यादि ज्ञान संषय होता है क्योंकि इसके अनन्तर प्राणी उपाय करके यह सोचता है या निष्चय करता है कि यह अमुक वस्तु नहीं है, यह तो अमुक वस्तु है। संषय ज्ञान अप्रमा ज्ञान या अयथार्थ ज्ञान के अन्तर्गत आता है क्योंकि यह ज्ञान वस्तु के अनुरूप और निष्चयात्मक ज्ञान नहीं होता। अप्रमाज्ञान के तीन भेदों, संषय, विपर्ययय व तर्क में सबसे पहला संषय ज्ञान ही है।

संषय एवं विपर्यय ज्ञान में अन्तरः

विपर्ययस्तु अतस्मिन् तद्ग्रह।[15] अर्थात जो वस्तु जैसा न हो उसे रूप में ज्ञान लेना विपर्यय ज्ञान कहलाता है। अन्नभठ्ठ ने इसे मिथ्या ज्ञान कहा है।[16] विपर्यय के मत में दार्षनिकों के भिन्न–भिन्न मत है। न्याय की भाषा में इसे भ्रान्ति भी कहा गया है। भ्रान्ति यद्यपि पदार्थ का मिथ्याज्ञान होता है किन्तु इससे पदार्थ को यथार्थकता में कोई अन्तर नहीं आता। विपर्यय ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुमान के विषय में होता है।[17] विपर्यय ज्ञान को इस दृष्टान्त के द्वारा समझा जा सकता है कि जैसे कोई दूर से चमकती हुई सीपी को देखता है, उसे चाँदी समय लेता है। इसी प्रकार रज्जु के रूप में न जानकर सर्प के रूप में निष्चय कर लेना भी भ्रान्ति या विपर्यय है। यद्यपि विपर्यय ज्ञान की संषय ज्ञान एक धर्मात्मक व निष्चयात्मक ज्ञान है भले ही निष्चय किया गया पदार्थ जहां विद्यमान न हो, जबकि सांय ज्ञान अनेकधर्मात्मक व अनिष्चयात्मक ज्ञान है। संषय ज्ञान में मनुष्य इस निष्चय पर नहीं पहुंच पाता कि सामने स्थित वस्तु क्या है? स्थाणु है या पुरूष है? विपर्यय ज्ञान में मनुष्य निश्चय पर तो पहुंच जाता है पर उसका निष्चय मिथ्या होता है।

संषय एवं स्मृति में अन्तर :

जो ज्ञान केवल संस्कारों से उत्पन्न होता है, उसे स्मृति कहते हैं।[18] यथार्थ और अयथार्थ के भेद में स्मृति दो प्रकार की है। यदि अनुभव अयथार्थ होगा तो स्मृति भी अयथार्थ

होगी। स्मृति अनुभव से भिन्न है परन्तु संषय ज्ञान अवधारणात्मक होने पर भी अनुभव है। अयथार्थ स्मृति अनुभूत पदार्थ के अनुरूप नहीं होती है लेकिन यर्थाथ स्मृति एवं अयथार्थ स्मृति दोनों ही प्रकार की स्मृतियों में ज्ञान की एक ही कोटी रहती है। परन्तु संषय में एकाधिक ज्ञान की कोटी रहती है जिसमें निष्चय का अभाव होता है इतना ही है कि संशय ज्ञान में स्मरण का अंष उपस्थित रहता है। स्थाणु एवं पुरूष दोनों की ऊँचाई, विस्तार आदि ज्ञान स्मरण रूप है। स्मृति ज्ञान अनुभव न होकर पूर्वानुभव का प्रतिनिधि है एवं संषय ज्ञान साक्षात् अनुभव है।

संषय एवं तर्क में अन्तर

"अनिष्टो तर्क निष्ट प्रसङ्ः"[19] अर्थात् अनिष्ट की प्राप्ति होना तर्क है, यथा – धूम और अग्नि व्याव्य – व्याप्क के रूप में ज्ञात है अतः इनमें से एक ही प्राप्ति हो रही है तो न चाहते हुए भी वहां पर दूसरे की सत्ता को मानना पड़ेगा। यही अनिष्ट प्रसङ्ः है। यह तर्क यथार्थ अनुभव नहीं है क्योंकि वस्तुस्वरूप के अनुरूप निष्चियात्मक ज्ञान नहीं है। वस्तुतः यह निष्चय से पूर्व की अनिषचित व्यवस्था का नाम है। यह केवल एक पक्ष का समर्थन करता है, तद्विषयक निष्चय नहीं करता, अतः यह अयथार्थ की कोटि में आता है। तर्क में चूंकि निष्चयात्मक ज्ञान का अभाव यद्यपि संषय में भी रहता है किन्तु फिर भी दोनों में अन्तर है। संषय में निष्चय नहीं रहता साथ ही निष्चय के लिए प्रयत्न भी नहीं रहता है, जबकि तर्क में निष्चय न रहने पर भी निष्चयोन्मुख प्रयत्न रहता है।[20] तर्क अनुमान प्रमाण का ग्राहक होता है। यद्यपि तर्क को प्रमाणों के अन्तर्गत नहीं माना जाता तथापि उसे प्रमाणों का अनुग्राहक तो मानना ही पड़ता है। यह तर्क व्यक्ति का निष्चय करने में सहायक होता है। पर्वत में धूम को देखने के बाद उक्त तर्क की सहायता से अनुमान प्रमाण के द्वारा अग्नि का निष्चय किया जाता है। इसलिए तर्क को प्रमाण का अनुग्राहक माना जाता है।

निष्कर्ष :

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि सूत्रकार गौतम द्वारा कथित षोडष पदार्थों में 'संषय' पदार्थ एक विषिष्ट स्थान रखता है। इसे

न्याय का पूर्वाङ्ग कहा गया है। यद्यपि संषय ज्ञान वस्तु के अनुरूप और निष्चयात्मक ज्ञान नहीं है इसलिए यह अयथार्थ की कोटि में आता है। फिर भी यह न्याय का प्रवर्तक कहा गया है। भाष्यकार ने स्वयं कहा है कि “न प्रसिध्दे न निर्णीतेड्र्थे न्यायः” अर्थात् न्याय या तर्क की प्रवृति न तो अनुपलब्ध विषय में होती है तथा न ही निर्णीत विषय में होती हैं तो प्रष्न उठता है कि न्याय की प्रवृति किस विषय में होती है? इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि न्याय की प्रवृति संदिग्ध विषय में होती है। संभवतः इसी कारण संषय को न्याय का प्रवर्तक कहा गया है।

सन्दर्भ :

1. ‘परिन्योर्नीणोर्धूताभ्रेषयोः’ – अष्टाध्यायी, 3.3.37.
2. ‘प्रमाणैरर्थपरीक्षण न्यायः’ – न्यायभाष्य, 1.1.1.
3. ‘सोडयं परमे न्यायः’ – न्यायभाष्य, 1.1.1.
4. न्यायसूत्र, वात्स्यायन भाष्य, पृ. 7.
5. न्यायसूत्र, वात्स्यायन भाष्य, पृ. 6.
6. न्यायसूत्र, सूत्र–23, पृ. 54.
7. न्यायसूत्र, हिन्दी व्याख्या, विद्याभास्कर।
8. न्यायसूत्र, वात्स्यायन भाष्य, हिन्दी व्याख्या सच्चिदानन्द मिश्र, पृ. 54
9. न्यायसूत्र, वात्स्यायन भाष्य, पृ. 55.
10. न्यायसूत्र, वात्स्यायन भाष्य, पृ. 55.
11. ‘अस्त्यात्मा इत्येकं दर्षनम् ‘नास्त्यात्मा’ अत्यपरम’, न्यायसूत्र, पृ. 55.
12. ‘न्यायसूत्र, वात्स्यायन भाष्य, पृ. 56.
13. न्यायसूत्र, वात्स्यायन भाष्य, पृ. 56.
14. न्यायसूत्र, वात्स्यायन भाष्य, हिन्दी व्याख्या सच्चिदानन्द मिश्र, पृ. 54
15. केषव मिश्र, तर्कभाषा, हिन्दी व्याख्या, सच्चिदानन्द मिश्र, पृ. 54
16. अन्नभठ्ठ, तर्कभाषा, पृ. 157
17. केषव मिश्र, तर्कभाषा, पृ. 16.
18. केषव मिश्र, तर्कभाषा, पृ. 14.
19. भारतीय न्यायषास्त्रम्, पृ. 128.